पूज्य श्रीमद् देवचंद्रजी के साहित्य में से सुधाबिन्दु

[आत्मयोग साधक स्वामीजी श्री ऋषभदासजी]

चित्र विचित्र स्वभाववाले, विविध प्रकार के जड़ चेतन पदार्थों से परिपूर्ण इस विशाल विश्व का जब हम अवलोकन करते हैं और इस विश्वतंत्र का व्यवस्थित ढंग से संचालन देखकर इसके अन्तस्तल में रहे प्रयोजन को सूक्ष्म-दृष्टि से समझने के लिये प्रयत्न करते हैं तो सारा तन्त्र सकल जीवराशि के लिये स्वतन्त्र, स्व-पर निरबाध, सहज सुख की सिद्धि के चरम साध्य के उपलक्ष्य में परोपकार की प्रबल भूमिका पर निरन्तर श्रमशील हो, ऐसा भास हुए बिना नहीं रहता और इसके समर्थन में पूर्व महर्षियों के कई श्लोक मिलते हैं। उदाहरणार्थ—

परोपकाराय फलन्ति वृक्षाः, परोपकाराय वहन्ति नद्यः ।
परोपकाराय दुहन्ति गावः, परोपकाराय शतां विभूतयः ॥

वास्तव में गगन मंडल में सूर्य-चन्द्र-तारा-ग्रह-नक्षत्र- की जगमगाती हुई ज्योति प्राणियों के प्रबोध प्राप्ति के पथ में प्रोत्साहन देती हुई उनके प्राण-रक्षण के अमृत समान अनेक पोषक तत्वों को प्रदान कर रही है। पवन, प्रकाश, पानी, अग्नि आदि भी प्राणियों के प्राण-रक्षण में सम्पूर्ण सहायता कर रहे हैं और पर्वत, नदी, नाले, बन, उपवन, उद्यान, हरे हरियाले खेत प्राणियों के प्राणों का अस्तित्व अबाधित रखने में बहुत अनुग्रह कर रहे हों, ऐसा दृष्टिगोचर हो रहा है। अगर नैसर्गिक नियंत्रण के पदार्थ विज्ञान में ऐसी परोपकारपूर्ण प्रक्रिया न होती तो प्राणी क्षण मात्र भी अपना अस्तित्व नहीं टिका सकते क्योंकि प्राणी मात्र सुख चाहते हैं, वह सुख भी सतत् चाहते हैं और सम्पूर्ण सुख चाहते हैं। इसलिये प्राणी मात्र का यह एक सनातन सिद्ध सहज स्वभाव हो, ऐसा ज्ञात होता है। अतः प्राणियों को अपने साध्य बिन्दु की सिद्धि के लिये विश्व के पदार्थ विज्ञान का प्रबोध प्राप्त करना अनिवार्य है। वह शक्ति मानव में होने के कारण मानव अपनी महानन्द मुक्ति पद का अधिकारी माना गया है।

यद्यपि मानव जन्म की महत्ता को प्रत्येक दर्शन ने प्रधान स्थान दिया है परन्तु मानव जन्म की महत्ता का रहस्य जैसा आर्हत्-दर्शन में प्रतिपादन किया गया है, वैसा कहीं भी नजर नहीं आता। आर्हत् दर्शन में समस्त चराचर प्राणियों को तीन कक्षाओं में विभाजित किया गया है। कितने ही प्राणी कर्म चेतना के वश हैं, कितने ही प्राणी कर्मफल चेतना के वश हैं और कितने ही ज्ञान चेतना के वश हैं। तीसरी ज्ञान चेतना का विशेष विकास मानव जन्म में ही दृष्टिगोचर हो रहा है। आर्हत् दर्शन में ही आत्मा के स्वभाव और विभाव धर्म का सर्वाङ्गसुन्दर प्रतिपादन है और इस उभय धर्म का अनुसन्धान करने के लिये दो प्रकार की द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दृष्टि का बड़ा सुन्दर वर्णन है। स्वभाव से ही यह अनन्त ज्ञान, दर्शन, चारित्र, अनन्त वीर्य और अनन्त सुख का स्वामी है और अजर, अमूर्त, अगुरुलघु और अव्याबाध गुणों का निधान है। इसीलिये सतत् सुखाभिलाषी और उसकी प्राप्ति के हेतु पूर्ण प्रयत्नशील है परन्तु विश्वतन्त्र की वस्तु-स्थिति के विज्ञान का विकास न साधे वहाँ तक यह अपनी अज्ञानदशा में सुख के बदले दुख परम्परावर्द्धक सुखाभास के लिये प्रयास करता रहता है और उस भ्रांति में अपने को चौरासी लाख जीवायोनि के भ्रमर-जाल में फंसाता है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तथा जन्म मरण को भयानक भवाटवी में भटकता फिरता है।

विश्व यन्त्र का पदार्थ विज्ञान कितना ही परोपकार-पूर्ण होने पर भी उसके गर्भ में रहे हुए परमानन्दकारी परमार्थ को हरएक प्राप्त नहीं कर सकता और इसके कई कारणों पर आर्हत् दर्शन में अनेक प्रकार से प्रकाश डाला गया है। उसमें एक कारण यह भी बताया गया है कि यह आत्मा उर्ध्वगमन स्वभाववाला है। जिस तरह अग्नि का धुआँ उर्ध्वगामी होने से उसका उर्ध्वगमन कराने में कोई प्रयत्न की जरूरत नहीं है लेकिन इतर दिशाओं में गमन कराने में बड़ा प्रयत्न करना पड़ता है क्योंकि वह धुएं का विभाव है, स्वभाव नहीं है। इसी तरह आत्मा अपने उर्ध्वगमन स्वभाव में सहज ही विकास साध सकता है जब कि अधोगमन एवं तिरछागमन में चेतन शक्ति का विकास दुःसाध्य हो जाता है। आत्मा वनस्पतिकाय आदि स्थावर में अधोगामी [Topsy Torby] स्थिति में है, तिर्यंच आदि त्रस में तिरछागामी (Oblique) स्थिति में है और नरक, देव और मनुष्य गति में उर्ध्वगमन (Perpendicular) स्थिति में है। शास्त्रकार महर्षियों ने तीन चेतनाओं का वर्णन करके पहले ही खुलासा कर दिया है कि तिर्थंच गति, चाहे स्थावर में हो चाहे त्रस में हो, कर्म चेतना के वश है; नरक और देव कर्मफल चेतना के वश है और मानव एक ही ऐसी गति है जिसमें ज्ञान चेतना-प्रधान है। वनस्पति आदि में उसकी अधोगमन स्थिति होने से चेतना का बिल्कुल अल्प विकास नजर आता है क्योंकि उनकी जड़ और धड़ सब उल्टे हैं। यही कारण है कि वृक्षों की शाखा-परिशाखाओं आदि ऊपर के भागों को काटने पर भी वे जीवन का अस्तित्व बनाये रखते हैं। मानव के उर्ध्वगमन स्वभाव में विकसित होने से मस्तक के नीचे रहे हुए अधोभाग के अंगपात्रों को काटने पर भी वह जीवित रहता है व अपने जीवन का अस्तित्व टिका सकता है, क्योंकि इसकी आत्मप्रदेश रूप ज्ञान चेतना की विशेषता मस्तिष्क भाग में केंद्रित है। इसलिये यह सत्यानुसन्धान करके अपने साध्य-सहजानन्द, सच्चिदानन्द स्वरूप को प्राप्त कर सकता है। तिर्यंचों में तो, तिरछे स्वभाव के होने के कारण, ज्ञान का बहुत साधारण स्थिति में विकास होता है क्योंकि उनका मस्तिष्क तिरछा है। यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि हाथी, घोड़े आदि का मस्तिष्क कितना ही बड़ा होने पर भी, उनकी ज्ञान-चेतना बहुत सीमित है, इसलिये सत्य को साक्षात्कार करने के वे पात्र ही नहीं हैं। देव और नरक के जीव उर्ध्वगामी जरूर हैं परन्तु जन्मान्तरों के विभाव धर्म में चाहे शुभ या अशुभ न्यूनाधिक मात्रा में प्रवृत्ति हुई है जिससे उनके सुख-दुःख की स्थिति उनके स्वाधीन नहीं है। अतः वे भी सत्य साधना को चरितार्थ करने में समर्थ नहीं हैं। केवल मानव जन्म में ही वैभाविक शक्ति समतुल मात्रा में विकसित न होने से इसको स्वाभाविक शक्ति साधने का सुन्दर प्रसंग है। इसीलिये मानव जन्म को अति दुर्लभ माना गया है और उसकी दुर्लभता के दस सुन्दर दृष्टांत उत्तराध्ययन सूत्र में बड़े ढंग से दर्शाये गये हैं; ऐसा सुन्दर वर्णन और कहीं नहीं मिलता।

अब बात यह है कि हमें अपनी स्वाभाविक सच्चिदानन्द स्थिति को प्राप्त करने के लिये स्वभाव एवं विभाव के कार्य कारण भावों पर खूब विश्लेषण करना नितान्त आवश्यक है। आर्हत-दर्शन में उस विश्लेषण विश्व-विद्या का नाम द्रव्य गुण-पर्याय का चिंतन है और यही आर्हत्-दर्शन का आदर्श ध्यान है, क्योंकि यह विश्वतंत्र इतना विचित्र एवं विज्ञानपूर्ण है कि इसमें कितने ही स्थूल-सूक्ष्म कारण हैं, कितने ही उपादान-निमित्त कारण हैं और कितने ही मूर्त्त अमूर्त्त कारण हैं। इसलिये आर्हत्-दर्शन में सर्वज्ञ बने बिना एवं केवलज्ञान प्राप्ति किये बिना कोई मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। इस विश्व-तत्र का संचालन जीव, अजीव दोनों पदार्थों के परस्पर संबंध से चलता है। इसलिये केवल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीव की अजर, अमर, अविनाशी, सच्चिदानन्द स्वरूप की मान्यतावाले दर्शन ही जीव को मुक्तिधाम पर पहुँचाने में सफल नहीं बन सकते। साथ में अजीव तत्व जो धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुदगल हैं, उनके पूर्ण स्वरूप को समझे बिना छुटकारा नहीं है। यद्यपि दूसरे द्रव्य अपनी गति, स्थिति, अवकाश, प्रवर्त्तना और परिणाम क्रिया में जीव के साथ सम्बन्धित है तथापि इनपर विशेष मंथन, परिशीलन न भी होवे परन्तु पुद्गल का स्वरूप समझना परम आवश्यक है क्योंकि पुद्गल और जीव परस्पर परिणामी द्रव्य हैं। एक दूसरे का परस्पर सम्बन्ध अलिप्त होने पर भी वे अपना प्रभाव परस्पर डाले बिना रहते नहीं।

एक दर्पण के सामने काला पर्दा रख दिया जाय तो यद्यपि पर्दा और दर्पण पृथक है, फिर भी पर्दे की परछाया दर्पण की निर्मलता को आवरित किये बिना रहती नहीं। इसी तरह आत्मा के ऊपर पुद्गल का आवरण क्या है, कैसे होता है, कैसे टिकता है और कैसे मिटता है, यह सब समझना ही पड़ेगा क्योंकि पुद्गल की भी कई वर्गणायें हैं। खासकर औदारिक आदि आठ वर्गणाएँ जीव से बहुत सम्बन्धित हैं और इनमें भी कार्मण-वर्गणा, जो अति सूक्ष्म मानी जाती है, अपने परिणाम के असर द्वारा आत्मा को स्व-पर का भान तक भुला देती है और यह जीव पर-परिणामी बन जाता है। संज्ञा, कषाय, विषय-वासना, आशा, तृष्णा ये सब पुद्गल-परिणामी होने पर भी जीव अपनी अज्ञान दशा में इनको आत्मपरिणामी समझकर उनमें परिणमन करता है और पुद्गल-परिणामी बनकर चारों गतियों में परिभ्रमण करता है। अपने अनन्त प्राणों के संयोग-वियोग के चक्कर में अरघट घटिका न्यायेन" अनादिकाल से संसार समुद्र के जन्म-मरण की तरंगों में गोते खाता रहता है। अतः आर्हत् दर्शन की परिभाषा में द्रव्य-गुण-पर्याय की घटमाल में ही सारे संसार का चक्र चलता है। इसलिये द्रव्य-गुण पर्याय का जितना भी सूक्ष्म अध्ययन, अवलोकन, चिंतन, मंथन और परिशीलन होगा, उतना ही सत्य का साक्षात्कार एवं वस्तुस्थिति का भान होता जायगा।

ग्रीष्म ऋतु की ताप से पीड़ित हाथी सरोवर के पंक (कीचड़) की शीतलता को देखकर उसमें सुख की भ्रांति में विश्रांति लेने गया। उसे शीतलता का सुख अनुभव जरूर हुआ परन्तु उस कादव में ऐसा फँस गया कि वह फिर बाहर नहीं आ सका। ग्रीष्म ऋतु के प्रचंड ताप से कीचड़ सूखता गया और हाथी को अपने प्राणों की आहुति देनी पड़ी। इसी तरह इस संसार का हाल है। इसलिये वैभाविक संबंध विकास मार्ग में कहाँ तक उपयोगी है और कहाँ तक निरुपयोगी है, इसका सम्यग्-बोध प्राप्त न हो तो वही विकास विकार रूप बनकर विनाश की तरफ ले जाता है। विश्वतंत्र के प्राणियों के लिए जीवन विकास की प्रक्रिया को जीव अपनी अज्ञान दशा में निरर्थक बना देता है। विश्वतंत्र में कहो या आर्हत्-दर्शन की परिभाषा में लोकस्थिति कहो या विज्ञान की भाषा में COSMIC ORDER कहो, प्रत्येक पदार्थ अपने स्वाभाविक स्वरूप में अवस्थित रहने के लिये सदा प्रवृत्तिशील है। अतः आर्हत्-दर्शन में सब बड़े तत्वों का परम तत्व (Fulorum of the whole Universe) "उवन्नेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा" माना है। अर्हन्त भगवंत धर्म तीर्थ स्थापित करने के लिए अपनी अमृत देशना का मंगलाचरण करते हैं तब ऐसा ही वर्णन है कि गणधर प्रश्न करते हैं कि "भंते ! किं तत्तं ? किं तत्तं ? उसके प्रत्युत्तर में भगवन्त "उवन्नेइ वा, विगमेइ वा धुवेइ वा" फरमाते हैं। यही द्रव्य-गुण-पर्याय की घटमाल को समझने का परमोत्कृष्ट साधन है और नैसर्गिक नियंत्रण का सारा विश्व विधान इसी विज्ञान को प्रकाश में लाने के लिये नियोजित है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो पुण्य-पवित्र आत्मा जन्म-जन्मान्तरों में अहिंसा संयम-तप का उत्तरोत्तर विकास साधते हुए केवलज्ञान को प्राप्त करके इस लोकालोक प्रकाशक-पूर्ण-विज्ञान प्रतिपादन के अधिकारी बनते हैं, वे ही तीर्थंकर कहलाते हैं। जीवों को तारने के लिये मार्गदर्शक आगमिक भाषा में वे महा-नियमिक, महा-सार्थवाह, महा-माहण और महागोप कहलाते हैं। उनका प्रवचन ही परमोत्कृष्ट धर्म एवं धर्मानुशासन कहलाता है। इस विश्वतंत्र के विशिष्ट विज्ञान को प्रकाश में लाये बिना इसकी पदार्थ-व्यवस्था के परदे के पीछे रहो हुई परोपकार की प्रक्रिया का परमार्थ रूप परमानन्द पद प्राणी प्राप्त करे, ऐसा जो गुप्त रहस्य रहा हुआ है, उसकी पूर्ति हेतु केवल अर्हन्त भगवंत ही अधिकारी है। अत: वे ही कार्य की सिद्धि के लिये कारण की सम्यग्-सामग्री सर्जन करते हैं और उसमें स्वाभाविक वैभाविक धर्मक्षेत्र आदि साधन ऐसा सामग्री जितनी प्राणी को अपने परमानन्द पथ की प्राप्ति के लिये चाहिये, उसकी पूर्ति करते हैं; अटल नियम है। इसलिये सारा विश्वतंत्र उनकी सेवा में प्रवृत्त है (The whole Cosmic order remains at their service)। इसिलिये पदार्थ व्यवस्था के विधान के मुताबिक उनके पंच कल्याणकों में देवेन्द्रों, सुरेन्द्रों का शुभागमन होता है और सामग्री की पूर्ति करनेवाले प्रभु हैं, ऐसा संकेत करनेवाले अशोकवृक्षादि अष्ट महाप्रातिहार्य का प्रादुर्भाव होता है। प्राणियों को हरएक प्रतिकूलता को पलायन करके सानुकूलता के साधन जुटाने की विशिष्ट-विभूति जो चौंतीस अतिशयों के नाम से प्रसिद्ध है, वह भी उनके स्वाधीन हो जाती है।

इसलिये नैसर्गिक पदार्थ व्यवस्था के प्रमाणभूत प्रतिनिधि (The most bonafide representative) तीर्थंकरों और उनके स्थापित तीर्थ की आराधना-प्रभावना ही हमारे लिये परमोत्कृष्ट मंगल रूप एवं परम श्रेयस्कर है। इसी आराधना-प्रभावना के यथार्थ बोध के उपलक्ष में मुझे जब भिन्न-२ साहित्य का अवलोकन, अध्ययन, मनन और परिशीलन करना पड़ा तब उसमें मुझे द्रव्यानुयोगी महात्मा देवचन्द्रजी को 'आगमसार' आदि पुस्तकों का तथा उनके तत्वगर्भित स्तवनों आदि का अध्ययन करने का भी सौभाग्य प्राप्त हुआ, जिनमें से उपलब्ध बोध के लिये इन महान उपकारी के उपकार का मैं अनन्त ऋणी हूँ, और उन्हीं महापुरुष के दिव्य जीवन का यशोगान करने के उपलक्ष में ही यह लेखनी उठाई है। यद्यपि ऊपर लेख की मर्यादा के बाहर पूर्व-भूमिका बहुत बन गई है, अतः मैं उनके विषय में अब क्या लिखूँ? परन्तु यह कहावत प्रसिद्ध है कि राम के यशोगान में रावण को अनोखी कथनी इतनी विस्तृत बताई कि राम की कथनी उससे भी विशेष विस्तृत करना आवश्यक समझा गया, परन्तु उस सुज्ञचिंतक ने तो एक ही वाक्य में कह दिया कि रावण अनेक विद्या, सिद्धि, ऋद्धि, वृद्धि, संपत्ति और शक्ति का स्वामी था परन्तु राम की किसी शक्ति का वर्णन किए बिना यही कहा कि राम ने रावण को पराजित किया। इससे सिद्ध हो गया कि राम में रावण से भी अनेक विशिष्ट शक्तियाँ थीं। इसी तरह से मैं भी यहाँ कहना चाहता हूं।

आपके साहित्य में से मैं जो कुछ समझा हूँ, वह सागर रूपी गागर में बतलाना चाहता हूँ कि अपने जीवन के उत्थान के लिये, परमानन्द पद की प्राप्ति के लिये एवं मुक्ति मंगल निकेतन का निवासी बनने के लिए तीन बातें बहुत जरूरी हैं:—

(१) प्रभु की प्रभुता (२) समर्पणभाव (३) आशय की विशुद्धि।

उपरोक्त तीन बातें यदि ठीक तरह से समझी जावे तो मानव सुखे-सुखे नरेन्द्र देवेन्द्र, सुरेन्द्र और अहमिन्द्रों की अनुपम ऋद्धि समृद्धि की सरिता में सुख संपादन करता हुआ सिद्धिधाम में पहुँच सकता है। इन बातों को समझे बिना जो प्राणी अपनी परिमित प्रज्ञा व मर्यादित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मेंधा पर आधार रखकर मुक्ति-मार्ग में प्रवास करता है तो वह परमार्थ के बदले अनर्थ, धर्म के बदले बदले अधर्म, पुण्य के बदले पाप, उपकार के बदले अपकार, हित के बदले अहित, शुभ के बदले अशुभ और शुद्ध के बदले अशुद्ध आचरण करके पराभव स्थिति को प्राप्त कर अपना अधः पतन किये बिना रहेगा नहीं।

जैसे निष्णात डाक्टर से संपर्क साधने के बाद अपने दिमागी दवाओं के झगड़े में पड़ना महामूर्खता है तथा निष्णात डाक्टर के ऊपर निर्भर रहने में ही साध्य की सिद्धि है, उसी तरह पहले हमें प्रभु को प्रभुता को खूब समझना चाहिये तभी समर्पण-भाव आयेगा और आशय की शुद्धि के लिये आतुरता विकसित होती जायगी और वह अपनी आदर्श-भावना को सफल बना सकेगा। केवल आत्मज्ञान की अपनी मति-कल्पना को मान्यतायें मानने और मनाने में अपना ही नहीं, लेकिन अनेकों के उत्थान के बदले पतन में अपने शुष्क ज्ञान को उपकरण बनाने के बदले अधिकरण बनाने के समान है। इसलिये परम-पूज्य महात्मा श्रीमद् देवचन्द्रजी ने उपरोक्त तीन विषयों की रूपरेखा को समझाने का अपने स्तवनों में प्रशंसनीय प्रयत्न किया है।

श्रीशीतलनाथ प्रभु के स्तवन में आप फरमाते हैं कि—

"शीतल जीन प्रति प्रभुता प्रभु की,
मुझ थकी कही न जावेजी"

क्योंकि सारा विश्व-विधान आपकी आज्ञा के अधीन हो गया है।

"द्रव्य, क्षेत्र ने काल, भाव, गुण,
राजनीति ए चार जी
त्रास बिना जड़ चेतन प्रभु की,
कोई न लोपे कारजी"

अर्थात् जड़ चेतन रूप षट् द्रव्य के द्वारा सारे विश्व-तन्त्र का संचालन हो रहा है; ये सब आपकी आज्ञा का लोप नहीं करते। मेरे कहने का आशय यह है कि आप ही विश्व के विभु एवं प्रभु हैं। अतः ऐसे प्रभु को समर्पित होने में ही हमारा सर्वोदय है। इसलिये ऐसा शुद्ध आशय बनाकर जो प्रभु का स्मरण करता है एवं उनकी आज्ञा का पालन करता है, वह परमानन्द पद को सुलभता से प्राप्त करता है क्योंकि वे आगे फरमाते हैं कि—

"शुभाशय थिर प्रभु उपयोगे, जो-समरे तुज नामजी।
अव्याबाध अनन्तु पामे, परम अमृत सुखधामजी॥"

ऐसे ही भाव श्री सुविधिनाथ भगवान के स्तवन में मिलते हैं।

"प्रभु मुद्रा ने योग प्रभु प्रभुता लखे हो लाल
द्रव्य तणे साधर्म्य स्वसंपति ओलखे हो लाल"

आगे जाते-जाते श्री महावीर स्वामी के स्तवन में तो यहाँ तक कहते हैं कि—

'तारजो बापजी विरुद निज राखवा,
दास नीं सेवना रखे जोसो"

इस तरह से मुझे तो इन तीन बातों पर श्री देवचन्द्रजी के प्रति अपनी आत्मा में इतना सद्भाव है कि जिसके वर्णन के लिये मेरे पास कोई शब्द नहीं है।

वैसे भी इनके रचना ग्रन्थों में नय, निक्षेप प्रमाण, लक्षण, मार्गणा स्थान, गुणस्थान, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव, पंच समवाय, औदायिक आदि पंच भाव, पंचाश्रव, षट् द्रव्य, सप्त धर्म-क्षेत्र, अष्ट कर्म, अष्ट करण, नौ तत्व, नौ पद आदि गहन विषयों का भी इतना सुन्दर और सरल ढंग से प्रतिपादन है कि सामान्य बुद्धिवाला भी अपना आत्मोत्थान साध सकता है। संस्कृत, प्राकृत के प्रौढ़ विद्वान होते हुए भी आपने सारे आगमों का अमृत-रस राजस्थानी, गुजराती, हिन्दी, व्रज भाषा में गद्य-पद्य में अपना साहित्य सर्जन करके बड़ा लोकोपयोगी बनाया जिसके लिये उनका जितना भी गुण गान गाया जावे, उतना ही थोड़ा है। वे बड़े आगम व्यवहारी, सच्चे अध्यात्म-पुरुष थे और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आर्हत्-दर्शन की मान्यतानुसार वे बड़े आत्म-योगी पुरुष थे, इसमें कोई शक नहीं।

श्रीमद् देवचन्द्रजी की साहित्य रचना में से प्रभु की प्रभुता, समर्पण भाव, आशय की विशुद्धि का आधार लेकर ही मैं आत्म योग सरोवर में चंचुपात कर रहा हूँ। समुद्र के प्रवास में जैसे प्रवहण ही आधार रूप है, इसी तरह से इनके प्रवचन-रूपी प्रवहण, मेरी आत्म-योग-साधना में मेरे लिये पुष्टावलंबन रूप है। अगर यह आधार न मिला होता तो इस भयानक भवसागर को पार करने का साहस भी नहीं होता, जैसे कि अपनी भुजा से समुद्र पार करने-वाले की स्थिति होती है। वह कितना ही पराक्रम करके प्रवहण बिना अपनी भुजा बल से थोड़ी प्रगति साधे परन्तु समुद्र की एक ही तरंग में वह शक्ति है कि वह उसका सारा पुरुषार्थ निष्फल बना सकती है। जिस तरह समुद्र मच्छ, कच्छ, मगर आदि भयानक जंतुओं से भरा है, उसी तरह इस भवसागर में भी संज्ञा, कषाय, विषय वासना, तृष्णा रूपी ऐसे भयानक जंतु भरे पड़े हैं और हम प्रभु के प्रवचन रूपी प्रवहण को प्राप्त किये बिना उनसे बच ही नहीं सकते। बड़े-बड़े पुरुषार्थी पूर्वधर पुरुष भी प्रगति के प्रवाह में से पड़कर निगोद तक पहुँचे हैं तो मेरे जैसे पुरुषार्थहीन अज्ञानी इस प्रवास में अपनी ही ज्ञान क्रिया के बल पर कैसे विकास साध सकते हैं ? अतः इस अगम, अपार संसार को पार करने का मेरे जैसे पामर प्राणी का पुरुषार्थ, हिन्दू धर्म शास्त्रों में टीटोडी के अंडे समुद्र में जाने से अपने चंचु-पात से समुद्र को खाली करने जेसा दृष्टान्त है। परन्तु टीटोडी के आत्म विश्वास ने गरूड़जी को आकर्षित किया, गरुड़जी के द्वारा विष्णु भगवान की कृपा हुई। उन्होंने उसके साध्य को सफल बनाया और समुद्र को अंडे वापस देकर क्षमा मांगनी पड़ी। ऐसे ही इस प्रभु की प्रभुता में वह शक्ति रही हुई है जिनकी कृपा एवं अनुग्रह से हमारा बेड़ापार हो सकता है। इसलिये दिन प्रति दिन प्रभु के प्रति दासत्व-भाव की वृद्धि करते जाना—यही मुक्ति द्वार तक पहुँचने का सरल उपाय है। "दासोऽहं" भाव अपने आप अप्रमत्त गुणस्थानकों में 'सोऽहं' भाव पर पहुंचायेगा और अन्त में "सोऽहं" भाव भी वीतराग गुणस्थानकों में छूटकर ऐसी केवलज्ञान स्थिति में रहा हुआ अपने शुद्ध सिद्धात्म स्वरूपस्थ "ऽहं" "एगो मे सासओ अप्पा, नाण दंसण संजुओ" स्व पर निराबाध सहजानन्द भाव सिद्ध स्वरूप को प्राप्त कर यगा।

इस प्रकार पूज्य श्रीमद् देवचन्द्रजी का मैं दिन रात जितना भी गुण गाऊं, वह थोड़ा ही है परन्तु उनके दिव्य जीवन सम्बन्धी इस स्थान पर दो शब्द उनके प्रति मेरा पूज्य भाव प्रदर्शित करने के लिये उल्लिखित किये हैं, इसमें मति मंदता के कारण कोई त्रुटि रही हो तो क्षमा चाहता हूं। सुज्ञेषु किं बहुना !

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org